



मंगल-प्रभात

सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

प्रकाशक

[illegible]

[व्रत-विचार]

मो० क० गांधी

१९६८

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद की सहमति से

बारहवीं बार : १९६८

मूल्य

[illegible]

~~संशोधित मूल्य........~~

उत्तर प्रदेश गांधी जन्म-शताब्दी समिति
लखनऊ के लिए प्रकाशित विशेष संस्करण

मुद्रक
यूनाइटेड ग्राफसेट प्रेस
दिल्ली

प्रकाशकीय

जीवन-शोधन-संबंधी गांधीजी की पुस्तकों में प्रस्तुत पुस्तक का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। इसमें उन्होंने बताया है कि हम अपने जीवन को किस प्रकार पाक-साफ़ और ऊँचा बना सकते हैं। अधिकांश लोग समाज, राष्ट्र और विश्व के उत्कर्ष की बात सोचते हैं; लेकिन वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि किसी भी समुदाय की, भले ही वह समाज हो या राष्ट्र अथवा विश्व, आधार-भूलक इकाई व्यक्ति होता है और जबतक व्यक्ति का जीवन शुद्ध नहीं होगा, समष्टि का हित-साधन कदापि नहीं हो सकता।

इसी बात को लक्ष्य में रखकर गांधीजी ने नीतिमय जीवन बनाने और बिताने पर निरंतर जोर दिया। वह इस देश में ही नहीं, सारी दुनिया में ऐसे मंगल-प्रभात का उदय देखना चाहते थे, जबकि सबका जीवन साफ-सुथरा हो, सब सुखी हों, सब हिल-मिलकर प्रेम-भाव से रहें और दूसरे के हित में सब अपना हित मानें।

जीवन के परिशोधन के लिए गांधीजी ने यरवदा-जेल से कुछ नीति-नियमों के संबंध में आश्रमवासियों को पत्र लिखे थे और आश्रम में उन नियमों के पालन का विशेष आग्रह रक्खा था। ये नियम देश-काल की सीमा से परे हैं। जोभी और जब भी इनका पालन करेगा, उसका जीवन उदात्त बनेगा। यही पत्र इस पुस्तक में संग्रहीत हैं।

इस पुस्तक के अनेक संस्करण हो चुके हैं। इससे पता चलता है कि लोगों में अपने जीवन को ऊँचा उठाने की भूख है। हम आशा करते हैं कि आगे भी इस पुस्तक को ऐसी ही लोकप्रियता प्राप्त होती रहेगी।

विषय-सूची

मंगल-प्रभात

: १ :

सत्य

प्रातःकाल की प्रार्थना के बाद
२२-७-३०

हमारी संस्था का मूल ही 'सत्य का आग्रह' है, इसलिए पहले सत्य को ही लेता हूं।

'सत्य' शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्ति-सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है, यह कहने की अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ता के बिना, सरदार के बिना नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारने पर तो लगेगा कि 'सत्' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करनेवाला है।

सत्य के साथ ज्ञान—शुद्ध ज्ञान—अवश्यंभावी है। जहां सत्य नहीं है वहां शुद्ध ज्ञान की संभावना नहीं है। इससे ईश्वर नाम के साथ चित् अर्थात् ज्ञान

शब्द की योजना हुई है और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नहीं। सत्य के शाश्वत होने के कारण आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वर को हम सच्चिदानन्द के नाम से भी पहचानते हैं।

इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसी के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जानेपर दूसरे सब नियम सहज में हमारे हाथ लग जा सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणतः सत्य का अर्थ सच बोलनामात्र ही समझा जाता है; लेकिन हमने विशाल अर्थ में सत्य शब्द का प्रयोग किया है। विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को संपूर्णतः समझनेवाले के लिए जगत में और कुछ जानना बाकी नहीं रहता; क्योंकि हम ऊपर विचार कर आए हैं कि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ है। उसमें जो न समाय, वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है। तब फिर उससे सच्चा आनन्द तो हो ही कहाँ से सकता है? यदि हम इस कसौटी का उपयोग करना सीख जायँ तो हमें यह जानने में देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, कौन त्याज्य? क्या देखने योग्य है, क्या नहीं? क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं।

पर यह पारसमणि-रूप, कामधेनुरूप सत्य पाया

कैसे जाय ? इसका जवाब भगवान ने दिया है—अभ्यास और वैराग्य से । सत्य की ही घालमेल अभ्यास है । उसके सिवा अन्य सब वस्तुओं में आत्यंतिक उदासीनता वैराग्य है । फिर भी हम पायंगे कि एक के लिए जो सत्य है, दूसरे के लिए वह असत्य हो सकता है । इसमें घबराने की बात नहीं है । जहाँ शुद्ध प्रयत्न है वहाँ भिन्न जान पड़नेवाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दिखाई देने वाले पत्तों के समान हैं । परमेश्वर ही क्या हर आदमी को भिन्न दिखाई नहीं देता ? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है । पर सत्य नाम ही परमेश्वर का है, अतः जिसे जो सत्य लगे तदनुसार वह बरते तो उसमें दोष नहीं । इतना ही नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है । फिर उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी; क्योंकि सत्य की खोज के साथ तपश्चर्या होती है अर्थात् आत्मकष्ट-सहन की बात होती है । उसके पीछे मर-मिटना होता है, अतः उसमें स्वार्थ की तो गंध तक भी नहीं होती । ऐसी निःस्वार्थ खोज में लगा हुआ आज तक कोई अंतपर्यंत गलत रास्ते पर नहीं गया । भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है ।

सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह 'हरि का मार्ग' है जिसमें कायरता की गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं । वह तो 'मरकर जीने का मंत्र' है ।

पर अब हम लगभग अहिंसा के किनारे आ पहुंचे हैं। उसपर अगले सप्ताह विचार करूंगा।

इस प्रसंग के साथ हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र, इमाम हसन-हुसेन, ईसाई संतों आदि के दृष्टांत विचारने योग्य हैं। चाहिए कि अगले सप्ताह तक सब बालक-बड़े, स्त्री-पुरुष चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते—सारे काम करते हुए यह रटन लगाये रहें और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करें तो कितना अच्छा हो? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्नचिंतामणि सिद्ध हुआ है। हम सभीके लिए वैसा ही सिद्ध हो।

: २ :

अहिंसा

मंगल-प्रभात
२९-७-३०

सत्य का, अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है उतना ही तंग भी, खांडे की धारपर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नजर रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसा की डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं।

लेकिन सत्य के सम्पूर्ण दर्शन तो इस देह से असंभव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार संभव

नहीं होता । अतः अन्त में श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रह ही जाती है ।

इसीसे अहिंसा जिज्ञासु के पल्ले पड़ी । जिज्ञासु के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्ग में आनेवाले संकटों को सहे या उनके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता जाय और आगे बढ़े ? उसने देखा कि नाश करते चलने पर वह आगे नहीं बढ़ता, दर-का-दर पर ही रह जाता है । संकट सहकर तो आगे बढ़ता है । पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नहीं है, बल्कि भीतर है । इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है ।

चोर हमें सताता है, उससे बचने को हमने उसे दंड दिया । उस वक्त के लिए तो वह भाग गया जरूर लेकिन उसने दूसरी जगह जाकर सेंध लगाई ; पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है । अतः हमने अँधेरी गली में ठोकर खाई । चोर का उपद्रव बढ़ता गया, क्योंकि उसने तो चोरी को कर्त्तव्य मान रखा है । इससे अच्छा तो हम यह ही पाते हैं कि चोर का उपद्रव सह लें, इससे चोर को समझ आयेगी । इस सहन से हम देखते हैं कि चोर कोई हमसे भिन्न नहीं है । हमारे लिए तो सब सगे हैं, मित्र हैं, उन्हें सजा देने की जरूरत नहीं ; लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नहीं है । इससे तो कायरता पैदा होती है । अतः

हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया । यदि चोर

अपना भाई-बिरादर है तो उसमें वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमें उसे अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख उठाने की ही बात आती है, अटूट धैर्य-शिक्षा की बात आती है। यदि यह हो जाय तो अन्त में चोर साहूकार बन जाता है और हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। ऐसा करते हुए हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं, ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते हैं; संकट सहते हुए भी शान्ति-सुख बढ़ता है; हममें साहस, हिम्मत बढ़ती है; हम शाश्वत-अशाश्वत का भेद अधिक समझने लगते हैं, हमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने आप घट जाता है और देह के अन्दर भरा हुआ मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसीको न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उसपर कब्जा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते हैं वह जगत के लिए आवश्यक है। जहाँ खड़े हैं वहाँ सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरों तले कुचले जाते हैं; यह जगह उनकी है। फिर क्या आत्म-हत्या कर लें? तो भी निस्तार नहीं है। विचार में देह

के साथ संसर्ग छोड़ दें तो अंत में देह हमें छोड़ देगी। यह मोहरहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरता से नहीं होते। यह समझकर कि देह हमारी नहीं है, वह हमें मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।

मैं सरल चीज लिखना चाहता था; पर हो गई कठिन। फिर भी जिसने अहिंसा का थोड़ा भी विचार किया होगा उसे समझने में कठिनाई न पड़नी चाहिए।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अहिंसा बिना सत्य की खोज असंभव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत हैं जैसे सिक्के के दोनों रुख, या चिकनी चकती के दो पहलू। उसमें किसे उलटा कहें, किसे सीधा? फिर भी अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथ की बात है। इससे अहिंसा परम-धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधन की चिन्ता करते रहने पर साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्ग में चाहे जो संकट आयें बाह्य दृष्टि से देखने पर हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए—सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्यरूप परमेश्वर के नाम पर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें इसके पालन का बल दे।

: ३ :

ब्रह्मचर्य

मंगल-प्रभात
५-८-३०

हमारे व्रतों में तीसरा ब्रह्मचर्य-व्रत है, वास्तव में देखने पर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्य के व्रत में से ही उत्पन्न होते हैं और उसीके लिए उनका अस्तित्व है। जिस मनुष्य ने सत्य को वरा है उसीकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है। फिर विकार की आराधना की तो बात ही कहां उठ सकती है ? जिसकी कुल प्रवृत्तियां सत्य के दर्शन के लिए हैं, वह संतानोत्पत्ति के काम में या घर-गिरती चलाने के झगड़े में पड़ ही कैसे सकता है ? भोगविलास द्वारा किसीको सत्य प्राप्त होने की आज तक हमारे सामने एक भी मिसाल नहीं है।

अथवा अहिंसा के पालने को लें तो उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम। जहां पुरुष ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरुष को अपना प्रेम सौंप दिया वहां उसके पास दूसरे के लिए क्या बच रहा ? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब बाद को।' पतिव्रता स्त्री पुरुष के लिए, और पत्नी-व्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्व होमने को तैयार होगा। अतः यह

स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन नहीं हो सकता। वह सारी सृष्टि को अपना कुटुम्ब नहीं बना सकता, क्योंकि उसके पास 'अपना' माना हुआ एक कुटुम्ब मौजूद है या तैयार हो रहा है। उसकी जितनी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी प्रेम में विक्षेप होता है। इसके उदाहरण हम सारे संसार में देख रहे हैं। इसलिए अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाले से विवाह नहीं बन सकता, विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?

फिर जो विवाह कर चुके हैं उनकी क्या गति होगी? उन्हें सत्य की प्राप्ति कभी न होगी? वे कभी सर्वार्पण नहीं कर सकते? हमनें तो इसका रास्ता निकाल ही रखा है—विवाहित का अविवाहित की भांति हो जाना। इस दिशा में इससे बढ़कर मैंने दूसरी बात नहीं देखी। इस स्थिति का मजा जिसने चखा है, वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोग की सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को भाई-बहन मानने लग जायं तो सारे झगड़ों से वे मुक्त हो जाते हैं। संसार भर की सारी स्त्रियां बहनें हैं, माताएं हैं, लड़कियां हैं—यह विचार ही मनुष्य को एकदम ऊंचे ले जानेवाला, बंधन में से मुक्ति देनेवाला हो जाता है। इसमें पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, वरन् अपनी पूंजी में वृद्धि करते हैं, कुटुम्ब बढ़ाते हैं। विकाररूपी मैल निकालने से प्रेम भी बढ़ता है। विकारों के जाने से एक-दूसरे की सेवा अधिक

अच्छी हो सकती है, एक-दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते हैं। जहाँ स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहाँ कलह के लिए ज्यादा गुंजाइश रहती है।

इस प्रधान विचार के समझ लेने और उसके हृदय में बैठ जाने के बाद ब्रह्मचर्य से होने वाले शारीरिक लाभ, वीर्यलाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। जान-बूझकर भोग-विलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोड़ना कितनी बड़ी मूर्खता है ? वीर्य का उपयोग दोनों की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाने के लिए है। उसका विषय-भोग में उपयोग करना, यह उसका अति दुरुपयोग है। इस दुरुपयोग के कारण वह बहुतेरे रोगों की जड़ बन जाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और कर्म तीनों से होना चाहिए। व्रतमात्र के विषय में यही बात समझनी चाहिए। हम गीता में पढ़ते हैं कि जो शरीर को तो वश में रखता हुआ जान पड़ता है, पर मन से विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ़ मिथ्याचारी है। सबका यह अनुभव है कि मन को विकारी रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करने में हानि ही है। जहाँ मन होता है वहाँ शरीर अन्त में घसिटाए बिना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरूरी है। मन को विकारवश होने देना एक बात है, मन का अपने आप, अनिच्छा से, बलात्कार से विकार को प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकार में यदि हम सहायक न बनें तो अंत में जीत ही है।

हमारा प्रतिपल का यह अनुभव है कि शरीर काबू में रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीर को तो तुरंत ही वश में करके मन को वश में करने का हम सतत प्रयत्न करते रहें तो हमने अपना कर्त्तव्य-पालन कर लिया। हमारे, मन के अधीन होते ही, शरीर और मन में विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचार का आरम्भ हो जाता है। पर जहाँ तक मनोविकार को दबाते ही रहते हैं वहाँ तक दोनों साथ जानेवाले हैं, ऐसा कह सकते हैं।

इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन करीब-करीब असंभव माना गया है। इसके कारण की खोज करने से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य को संकुचित अर्थ में लिया गया है। जननेंद्रिय-विकार के निरोधभर को ही ब्रह्मचर्य का पालन मान लिया गया है। मेरे खयाल में यह व्याख्या अधूरी और गलत है। विषयमात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्सन्देह, जो अन्य इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इंद्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकारी बातें सुनना, आंख से विकार उत्पन्न करने वाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारों को उभारने वाली चीज को छूना और फिर भी जननेंद्रिय को रोकने का इरादा रखना तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है। इसलिए जननेंद्रिय को रोकने का निश्चय करने वाले के लिए इंद्रियमात्र का, उनके

विकारों से रोकने का, निश्चय होना ही चाहिए। यह मुझे हमेशा लगता रहा है कि ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इंद्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास डालें तो जननेंद्रिय को वश में रखने का प्रयत्न तुरंत सफल हो सकता है। इसमें मुख्य स्वादेंद्रिय है और इसीलिए व्रतों में उसके संयम को हमने पृथक् स्थान दिया है। उसपर अगली बार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की—सत्य की—शोध में चर्या, अर्थात् तत्-सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ में से सर्वेन्द्रिय-संयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेंद्रिय-संयमरूपी अधूरे अर्थ को तो हमें भूल जाना चाहिए।

: ४ :

अस्वाद

मंगल-प्रभात

१२-८-३०

ब्रह्मचर्य के साथ यह व्रत बहुत निकट संबंध रखने-वाला है। मेरे अनुभव के अनुसार इस व्रत का पालन करने में समर्थ होने पर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेंद्रिय-संयम बिलकुल सहज हो जाता है। साधारणतया इसे व्रतों में पृथक् स्थान नहीं दिया जाता। स्वाद को बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसलिए इस व्रत को पृथक् स्थान न मिला, पर यह केवल मेरा अनुमानमात्र है।

ऐसा हो या न हो, हमने इस व्रत को पृथक् स्थान दिया है। इसलिए इसका स्वतंत्ररूप से विचार कर लेना उचित है।"

अस्वाद का अर्थ होता है स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। जैसे दवा के खाने में हम इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीर को उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाण में ही सेवन करते हैं, वही बात अन्न के विषय में समझनी चाहिए। अन्न से मतलब समस्त खाद्य पदार्थों से है। इसलिए दूध-फल भी उसमें आ जाते हैं। जैसे दवा नियत परिमाण से कम खाने पर लाभ नहीं होता अथवा कम होता है और अधिक परिमाण में खाने से हानि होती है, वही बात अन्न के बारे में है। इसलिए किसी भी वस्तु को स्वाद लेने के लिए चखना व्रत का भंग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तु का अधिक परिमाण में लेना तो अनायास व्रत का भंग हो गया। इससे यह समझ में आ सकता है कि किसी चीज का स्वाद बढ़ाने या बदलने के लिए अथवा उसका स्वाद-अस्वाद मिटाने को नमक मिलाना यह व्रत-भंग है। पर अमुक परिमाण में नमक की जरूरत है, यह हम जानते हों और इस वजह से उसमें नमक मिलावें तो इसमें व्रत-भंग नहीं है। शरीर पोषण के लिए आवश्यकता न होने पर भी मन को ठगने के लिए आवश्यकता का आरोप करके किसी चीज का लेना तो मिथ्याचार माना जायगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम पायंगे कि

कितनी ही चीजें हम ऐसी लेते हैं जो हमारी शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक न होने के कारण त्याज्य-श्रेणी में हैं और इस प्रकार अगणित वस्तुओं का अनायास त्याग हो जाने से उस मनुष्य के विकारमात्र शांत हो जायंगे। "एक हांडी तेरह व्यंजन मांगती है," "पेट तरह-तरह के नाच नचाता है, स्वांग भरवाता है," इन सब वचनों में बड़ा अर्थ समाया हुआ है। इस विषय पर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रत की दृष्टि से आहार का चुनाव प्रायः अशक्य हो गया है। बचपन से ही माँ-बाप झूठा लाड-चाव करके अनेक प्रकार के स्वाद करा-कराकर शरीर को बिगाड़ देते हैं और जीभ को कुतिया बना देते हैं, जिससे बड़े होने पर लोग शरीर से रोगी और स्वाद की दृष्टि से महाविकारी देखने में आते हैं। इसका कटु फल हम पद-पद पर अनुभव करते हैं, फजूल-खर्चियों में पड़ते हैं, वैद्य-डाक्टरों की खुशामदें करते हैं और शरीर तथा इंद्रियों को वश में रखने के बदले उनके गुलाम बनकर अपंग की भाँति जीते हैं। एक अनुभवी वैद्य का कथन है कि संसार में मैंने एक भी निरोगी पुरुष नहीं देखा। जरा भी स्वाद के फेर में पड़ने से शरीर के लिए उपवास की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है।

इस विचारधारा से किसी को घबराने की जरूरत नहीं है। अस्वाद-व्रत की भयंकरता देखकर उसे त्याग देने की भी जरूरत नहीं। कोई व्रत लेने का अर्थ यह नहीं होता कि हम उसी समय से उसका पूर्णरूप से

पालन करने लग गए। व्रत लेने का अर्थ होता है संपूर्ण रूप से उसके पालन का सच्चा दृढ़ प्रयत्न मन-वचन-कर्म से, जीवन पर्यन्त करना। किसी व्रत के कठिन होने के कारण उसकी परिभाषा ढीली करके मन को धोखा नहीं देना चाहिए। अपनी सुविधा के लिए आदर्श को गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्श को स्वतन्त्र रूप से जानकर, वह चाहे जितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करने का जी-जान से प्रयत्न करना परम अर्थ है—पुरुषार्थ है। पुरुष शब्द का अर्थ केवल नर न लेकर मूल अर्थ लेना चाहिए। पुर में अर्थात शरीर में जो रहे वह पुरुष। यह अर्थ लेने से पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों के लिए हो सकता है। जो तीनों काल में सम्पूर्ण रूप से महाव्रतों का पालन करने में समर्थ है उसे इस जगत में कुछ भी करने को नहीं है। वह भगवान है, वह मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु, जिज्ञासु, सत्य का आग्रह रखने-वाले, उसकी खोज करने वाले प्राणी हैं। इसलिए गीता की भाषा में, धीरे-धीरे, किन्तु अतंद्रित रहकर हमें प्रयत्न करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते किसी दिन प्रभु-प्रसाद के योग्य हो जायंगे और तब हमारे रसमात्र भस्म हो जायंगे।

अस्वाद व्रत का महत्व समझ लेने पर हमें उसके पालन के लिए नया प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए चौबीसों घंटे खाने के बारे में ही सोचते रहने की जरूरत नहीं। सिर्फ सावधानी की, जागृति की पूरी आवश्यकता

रहती है। ऐसा करने से थोड़े ही समय में हमें मालूम हो जायगा कि हम कब स्वाद के फेर में पड़ते हैं और कब शरीर-पोषण के लिए खाते हैं। वह मालूम हो जाने पर हमें दृढ़तापूर्वक स्वाद को घटाते ही जाना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर अस्वाद-वृत्ति से बनानेवाली शामिल-रसोई बहुत सहायक है। वहां हमें रोज़ इसका विचार नहीं करना पड़ता कि क्या पकायंगे, क्या खायंगे, बल्कि जो बना और जो अपने लिए त्याज्य न हो, उसे ईश्वर का अनुग्रह मानकर, मन में भी उसकी टीका किये बिना, संतोषपूर्वक शरीर के लिए जितना आवश्यक हो उतना खाकर उठ जायं। ऐसा करनेवाला अनायास अस्वादव्रत का पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा भार हल्का कर देते हैं, हमारे व्रत के रक्षक बनते हैं। स्वाद करने की दृष्टि से उन्हें कुछ न बनाना चाहिए, केवल समाज के शरीर का पोषण करने के लिए ही रसोई बनायें। वास्तव में तो आदर्श स्थिति में अग्नि की आवश्यकता कम-से-कम या बिल्कुल ही नहीं है। सूर्यरूपी महा-अग्नि जिन चीजों को पकाती है उन्हींमें से हमारे खाद्य का चुनाव होना चाहिए। इन विचारों से सिद्ध होता है कि मनुष्यों को केवल फलाहारी होना चाहिए, परन्तु यहां इतनी गहराई में उतरने की जरूरत नहीं है। यहां तो केवल इतना ही विचार करना है कि अस्वाद-व्रत क्या है, उसमें कौन-कौन सी कठिनाइयां हैं, या नहीं हैं और उसका ब्रह्मचर्य-पालन के साथ

कितना अधिक निकट संबंध है। इतना समझ, सबको यथाशक्ति इस व्रत के पालन का शुभ प्रयत्न करना चाहिए।

: ५ :

अस्तेय

मंगल-प्रभात
१९-८-३०

अब हम अस्तेय व्रत पर आते हैं। गम्भीरता से विचारने पर सभी व्रत सत्य और अहिंसा अथवा सत्य के गर्भ में स्थित हैं। वे इस प्रकार दिखाये जा सकते हैं:

सत्य | अथवा | सत्य—अहिंसा

अहिंसा



ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, इत्यादि। चाहें तो हम इस क्रम को और बढ़ा सकते हैं।

सत्य में से अहिंसा की उत्पत्ति अथवा सत्य और अहिंसा का जोड़ा मान सकते हैं। दोनों वस्तुएं एक ही हैं, तथापि मेरा मन पहले की ओर झुकता है। अंतिम स्थिति जोड़े से—द्वंद्व से—अतीत है। परम

सत्य अकेला स्थित रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा साधन है। अहिंसा को हम जानते हैं, यद्यपि पालन कठिन है। सत्य का तो केवल अंश ही जानते हैं, पूर्णरूप से उसका जानना देही के लिए कठिन है, वैसे ही जैसे कि देही के लिए अहिंसा का पूर्ण पालन।

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। चोर का सत्य को जानना या प्रेम-धर्म का पालन संभव नहीं है तथापि हम सब, थोड़ा-बहुत चोरी का दोष जाने-अनजाने करते हैं। दूसरे की चीज को उसकी आज्ञा के बिना लेना तो चोरी है ही; पर मनुष्य अपनी मानी जानेवाली चीज की भी चोरी करता है—जैसे, एक बाप अपने बच्चों को जनाये बिना, उनसे छिपाने की नीयत रखकर गुपचुप कोई चीज खा ले। आश्रम का भंडार हम सभी का कहलायेगा; पर उसमें से चुपके से गुड़ की एक डली भी खानेवाला चोर है। दूसरे लड़के की कलम लेनेवाला लड़का भी चोरी करता है। सामनेवाला जानता हो तो भी, कोई चीज उसकी आज्ञा के बिना लेना चोरी है। लावारिस समझकर कोई चीज लेने में भी चोरी है। पड़ुआ (राह में पड़ी चीज) के मालिक हम नहीं हैं, बल्कि उस प्रदेश का राज्य या वहां की सरकार है। आश्रम के नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रम के मंत्री को सौंपनी चाहिए। आश्रम की न होने पर मंत्री उसे पुलिस के हवाले करेगा।

यहांतक समझना तो अपेक्षाकृत सरल है; पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीज की जरूरत

न होते हुए, जिसके अधिकार में वह है उससे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी संसार में ज्यादा-से-ज्यादा खाने की चीजों के संबंध में होती है। मुझे अमुक फल की जरूरत नहीं है, फिर भी मैं उसे खाता हूं या जरूरत से ज़्यादा खाता हूं तो यह चोरी है। वस्तुतः अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नहीं है और प्रायः हम सब, अपनी जरूरतों को आवश्यकता से अधिक बताते और इससे अनजाने चोर बन जाते हैं। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतों को घटा सकते हैं। अस्तेय-व्रत पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताएं कम करता जायगा। इस संसार में अधिकतर दरिद्रता अस्तेय के भंग से पैदा हुई है।

ऊपर बताई गई सब चोरियों को बाह्य अथवा शारीरिक चोरी समझना चाहिए। इसमें सूक्ष्म और आत्मा को नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मन से हमारा किसीकी चीज पाने की इच्छा करना या उसपर झूठी नज़र डालना चोरी है। सयाने या बच्चे का, किसी अच्छी चीज को देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। उपवासी व्यक्ति शरीर से तो नहीं खाता, पर दूसरों को खाते देखकर यदि वह मनसे स्वाद लेता है तो चोरी करता है और अपना उपवास भंग करता है। जो उपवासी मन से उपवास के बदले भोजन के मनसूबे करता रहता

है, उसके लिए कहेंगे कि वह अस्तेय और उपवास का भंग करता है। अस्तेयव्रत का पालनकर्त्ता भविष्य में मिलनेवाली चीजों के चक्कर में नहीं पड़ता। अनेक चोरियों के मूल में यह लालची इच्छा पाई जायगी। आज जो वस्तु केवल विचार में होती है, कल उसे पाने को हम भले-बुरे तरीके काम में लाते हैं।

वस्तु की भांति ही विचारों की चोरी भी होती है। अमुक उत्तम विचार हमें नहीं सूझता, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमें ही वह पहले सूझा, विचार की चोरी करना है। संसार के इतिहास में ऐसी चोरी अनेक विद्वानों ने भी की और आज भी कर रहे हैं। मान लीजिये कि मैंने आंध्र में नए ढंग का एक चरखा देखा, वैसा चरखा मैं आश्रम में बनाऊं और फिर कहूं कि यह तो मेरा अविष्कार है तो इसमें मैं स्पष्ट रूप से दूसरे के आविष्कार की चोरी करता हूं और इसमें असत्य का आसरा तो लेता ही हूं। अतः अस्तेयव्रत का पालन करनेवाले को बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बड़ी सादगी से रहने की जरूरत पड़ती है।

: ६ :

अपरिग्रह

मंगल-प्रभात
२६-८-३०

अपरिग्रह को अस्तेय से संबंधित समझना चाहिए।

वास्तव में चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक

संग्रह चोरी का-सा माल हो जाता है। परिग्रह का अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक, अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज-की-रोज पैदा करता है। अतः यदि हमारा उसपर विश्वास है तो हमें समझना चाहिए कि वह हमें आवश्यक चीजें रोज-की-रोज देता है, देगा। औलियाओं का, भक्तों का यह अनुभव है। रोज के कामभर का रोज पैदा करने के ईश्वरीय नियमों को हम नहीं जानते अथवा जानते हुए भी पालते नहीं हैं। अतः जगत में विषमता और उससे होनेवाले दुःख भोगते हैं। धनी के घर उसके लिए अनावश्यक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, खराब होती रहती हैं, दूसरी ओर उनके अभाव में करोड़ों मनुष्य भटकते फिरते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब लोग अपनी आवश्यकताभर को ही संग्रह करें तो किसीको तंगी न हो और सबको सन्तोष रहे। आज तो दोनों ही तंगी अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होने को छटपटाता है, उसे सन्तोष नहीं रहता, कंगाल करोड़पति होना चाहता है। उसे पेट भरनेभर को ही पाकर सन्तोष होता दिखाई नहीं देता; परंतु कंगाल को पेटभर पाने का अधिकार है और समाज का धर्म है कि उसे इतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने सन्तोष के लिए शुरुआत धनी को करनी चाहिए। वह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग

दे तो दरिद्र के कामभर को सहज में मिल जाय और दोनों पक्ष सन्तोष का सबक सीखें। आदर्श, आत्यंतिक अपरिग्रह तो उसीका कहा जायगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। यहांतक कि वह पक्षी की भांति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करता है। अन्न तो उसे रोज की जरूरत भर को भगवान देता रहेगा। इस अवधूत स्थिति को तो विरले ही पहुंच सकते हैं। हम मामूली दर्जे के सत्याग्रह के जिज्ञासुओं को तो चाहिए कि आदर्श को ध्यान में रखकर नित्य अपने परिग्रह की जांच करते रहें और जहांतक बने उसे घटाते रहें। सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है। परिग्रह घटाते जाने से सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता जाता है, सेवा-शक्ति बढ़ती है। इस दृष्टि से विचारने और बरतने पर हमें मालूम होगा कि आश्रम में हम लोग बहुत-सा संग्रह ऐसा करते हैं कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रह से पड़ोसी को चोरी करने के लालच में फंसाते हैं। अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा सकता है और ज्यों-ज्यों घटाता जाता है त्यों-त्यों वह सुखी, शांत और सब तरह से आरोग्यवान होता जाता है। केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिये तो शरीर भी परिग्रह है। भोग की इच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण ले लिया और उसे

कायम रखा है। भोगेच्छा के अत्यंत क्षीण हो जानेपर शरीर की जरूरत नहीं रह जाती। सर्वव्यापक आत्मा शरीररूपी पिंजड़े में कैसे बन्द रह सकता है? यह पिंजड़ा बनाये रखने को अनर्थ कैसे कर सकता है? दूसरे को कैसे मार सकता है? यों विचार करते हुए हम आत्यंतिक त्याग को पहुंच जाते हैं और शरीर की स्थितिपर्यंत उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते हैं और यहांतक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खूराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-ऊंघना सब सेवा के लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतनेवाला मनुष्य अन्त में सत्य की झांकी करेगा। इस दृष्टि से हम सबको अपने परिग्रह पर विचार कर लेना चाहिए।

यह याद रखें कि वस्तुओं की भांति विचार का भी परिग्रह होना चाहिए। अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान भर लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख रखते हों अथवा ईश्वर के प्रति न ले जाते हों वे सब परिग्रह के अन्दर आते हैं और इसलिए त्याज्य हैं। भगवान की तेरहवें अध्याय में दी हुई ज्ञान की यह परिभाषा हमें ख्याल में लानी चाहिए। अमानित्व इत्यादि गिनाकर कहा गया कि उससे भिन्न सब अज्ञान है। यदि यह वचन सत्य हो और सत्य है ही—तो हम आज जो बहुत-कुछ ज्ञान के नाम से संग्रह करते हैं, वह अज्ञान ही है और उसे

लाभ के बदले हानि होती है; दिमाग फिर जाता है, अंत में खाली हो जाता है; असन्तोष फैलता है और अनर्थ बढ़ते हैं। इससे यह मतलब नहीं कि मंदता अभीष्ट है। प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिए; पर वह प्रवृत्ति होनी चाहिए सात्विक, सत्य की ओर ले जानेवाली। जिसने सेवा-धर्म स्वीकार किया है, वह क्षणभर भी सुस्त नहीं रह सकता। यहां तो सारासार का विवेक सीखने की बात है। सेवा-परायण को यह विवेक सहज प्राप्त होता है।

: ७ :

अभय

मंगल-प्रभात
२-९-३०

सोलहवें अध्याय में दैवी संपद् का वर्णन करते हुए भगवान ने इसकी गिनती सबसे पहले की है। इस विवाद में मैं नहीं पड़ता कि ऐसा श्लोक की संगति के सुविधार्थ या अभय को प्रथम स्थान देने के औचित्य की दृष्टि से है। न यह निर्णय करने की मुझमें योग्यता है। मेरी समझ में अभय को अनायास प्रथम स्थान मिल गया हो तो भी वह उसके योग्य है। अभय के बिना दूसरी संपत्तियां नहीं मिल सकतीं। अभय के बिना सत्य की खोज कैसे हो सकती है? अभय के बिना अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है? हरि के मार्ग पर चलना खांडे की धार पर चलना है,

वहां कायर का काम नहीं है। सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक। वीर के मानी हैं भयमुक्त, तलवार आदि लटकानेवाला नहीं। तलवार शूरता का चिह्न नहीं; बल्कि भीरुता की निशानी है।

भय के मानी हैं बाहरी भयमात्र से मुक्ति—मौत का भय, धन-दौलत लुट जाने का भय, कुटुम्ब-परिवार-विषयक भय, रोग-भय, शस्त्र-प्रहार का भय। प्रतिष्ठा का भय, किसीके बुरा मानने का भय। भय की यह पीढ़ी चाहे जितनी लम्बी बढ़ाई जा सकती है। साधारणतः कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्यु-भय को जीत लिया तो सब भयों को जीत लिया; परंतु यह यथार्थ नहीं जान पड़ता। बहुतेरे मौत का भय छोड़ देते हैं, तथापि अन्य प्रकार के दुःखों से भागते हैं। कुछ मरने को तैयार होने पर भी सगे-संबंधियों का वियोग सहन नहीं कर सकते। कोई कंजूस इनकी परवा नहीं करेगा, देह छोड़ देगा; पर बटोरा हुआ धन छोड़ते घबरायेगा। कोई होगा जो अपनी कल्पित मान-प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बहुत कुछ सियाह-सफेद करने को तैयार हो जायगा और कर डालेगा। कोई संसार की निन्दा के भय से, जानते हुए भी, सीधा मार्ग ग्रहण करने में हिचकिचायेगा। सत्य की खोज करनेवाला तो समस्त भयों को तिलांजलि दिये बिना ही निस्तार है। उसकी हरिश्चन्द्र की भांति मिट जाने की तैयारी होनी चाहिए। भले ही

हरिश्चन्द्र की कथा कल्पित हो; पर आत्मार्थी मात्र का यह अनुभव है। अतः उस कथा की कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथा से अनंत गुनी अधिक है और वह सबके लिए संग्रहणीय तथा मननीय है।

अभयव्रत का सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्र से मुक्ति तो वही पा सकता है जिसे आत्म-साक्षात्कार हो गया हो। अभय मोह-रहित स्थित की पराकाष्ठा है। निश्चय करने से, सतत प्रयत्न से और आत्मा पर श्रद्धा बढ़ने से अभय की मात्रा बढ़ सकती है। मैंने आरम्भ में ही कहा है कि हमें बाहरी भयों से मुक्ति पानी हैं। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादि का भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेने से बाहरी भयों का उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देह के कारण हैं। देहविषयक राग दूर हो जाने से अभय सहज में प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पना की उपज हैं। धन से, परिवार से, शरीर से 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहां? 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'—यह रामबाण वचन है। कुटुंब, धन, देह ज्यों-के-त्यों रहें, कोई आपत्ति नहीं, इनके बारे में अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, वह 'मेरे' नहीं हैं; यह ईश्वर के हैं, 'मैं' उसीका हूं; 'मेरी' कहलानेवाली इस संसार में कोई भी वस्तु नहीं है, फिर मुझे भय किसके लिए हो सकता है? इसलिए उपनिषद्कार ने कहा है कि

'उसका त्याग करके उसे भोग।' अर्थात् हम उसके रक्षक बनें। वह उसकी रक्षा करने भर की ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायं, शून्यवत् होकर रहें तो सहज में भय-मात्र को जीत लें, सहज में शांति पा जायं, सत्यनारायण के दर्शन प्राप्त कर लें।

: ८ :

अस्पृश्यता-निवारण

मंगल-प्रभात
९-९-३०

यह व्रत भी अस्वादव्रत की भांति नया है और कुछ विचित्र भी लगता है; पर जितना विचित्र है उससे अधिक आवश्यक है। अस्पृश्यता यानी छुआ-छूत। यह चीज जहां-तहां धर्म में, धर्म के नाम या बहाने से विघ्न डालती है और धर्म को कलुषित करती रहती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है तो अछूत कोई नहीं। जैसे भंगी, चमार अछूत माने जाते हैं; पर अछूत नहीं हैं, वैसे मृतक (लाश) भी अस्पृश्य नहीं है, वह आदर और करुणा का पात्र है। मुर्दे को छूने, तेल मलने अथवा हजामत बनाने-बनवाने के बाद हमारा नहाना सिर्फ स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित है। मुर्दे को छूकर या तेल लगाकर न नहानेवाले को गंदा भले ही कहिये, पर वह पातकी नहीं है, पापी नहीं है। यों तो बच्चे का मैला उठाने पर माता

जबतक न नहाये या हाथ-पैर न धोये तबतक भले ही अस्पृश्य हो, पर बच्चा यदि खेलते-खेलते उसे छू ले तो वह छुआता नहीं, न उसकी आत्मा मलिन हो जाती। पर भंगी, चमार आदि नाम ही तिरस्कार-सूचक हो गये हैं और वह जन्म से ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मनों साबुन बरसों तक शरीर पर घिसा हो, चाहे वैष्णव का-सा भेस रखता हो, माला-कंठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीता-पाठ करता हो और लेखक का पेशा करता हो, तथापि है अछूत। इसे धर्म मानना या ऐसा बर्ताव होना धर्म नहीं है, यह अधर्म है और नाश के योग्य है। हम अस्पृश्यता-निवारण को व्रत में स्थान देकर यह मानते हैं कि अस्पृश्यता—छुआछूत हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, उसका परम कर्त्तव्य है। अतः उसे पाप माननेवालों को चाहिए कि उसका प्रायश्चित्त करें। अधिक कुछ न हो तो प्रायश्चित्त रूप से भी धर्म समझकर हिन्दू को चाहिए कि प्रत्येक अछूत माने जानेवाले भाई-बहन को अपनावें, प्रेमपूर्वक सेवा-भाव से उसे स्पर्श करें, स्पर्श करके अपनेको पवित्र हुआ समझें। अछूत के दुःख दूर करें। कुचले जाने के कारण उनमें पैठे हुए अज्ञानादि दोषों को धैर्यपूर्वक दूर करने में उन्हें सहायता दें और दूसरे हिन्दुओं को भी ऐसा करने को राजी करें, प्रेरित करें। अस्पृश्यता

को इस दृष्टि से देखते हुए उसे दूर करने में होने-वाले ऐहिक या राजनैतिक परिणामों को व्रतधारी तुच्छ गिनेगा। वे या वैसे परिणाम हों या न हों, तथापि अस्पृश्यता-निवारण का व्रतरूप से आचरण करनेवाला व्यक्ति धर्म समझकर अछूत गिने जाने-वालों को अपनायेगा। सत्यादि का आचरण करते हुए हमें ऐहिक फल का विचार नहीं करना चाहिए। सत्या-चरण व्रतधारी के लिए कोई युक्ति नहीं है। वह तो उसके शरीर से लगी हुई वस्तु है; उसका स्वभाव है। इसी तरह अस्पृश्यता की बुराई समझ में आ जाने पर हमें मालूम होगा कि यह सड़न केवल भंगी-चमार कहलानेवाले लोगों तक ही सीमित रही हो सो बात नहीं है। सड़न का स्वभाव है कि पहले राई के दाने के बराबर लगती है, फिर पर्वत का रूप धारण कर लेती है और अंत में जिसमें प्रवेश करती है उसका नाश करती रहती है। यही बात छुआछूत के सम्बन्ध में भी है। यह छुआछूत विधर्मियों के प्रति आई है, अन्य सम्प्रदायों के प्रति आई है, एक ही सम्प्रदायवालों के बीच भी घुस गई है और यहांतक कि कुछ लोग तो छुआछूत का पालन करते-करते पृथ्वी पर भाररूप हो गये हैं। वे अपने-आपको संभालने, पालने-पोसने, नहाने-धोने, खाने-पीने से फुर्सत नहीं पाते, ईश्वर के नाम पर ईश्वर को भूलकर वे अपनेको पूजने लग गये हैं। अतः अस्पृश्यता-निवारण करनेवाला भंगी-चमार को अपनाकर ही संतोष न ... गा, वह जीव-

मात्र को अपने में न देखने तक और अपनेको जीवमात्र में न होने तक शांत न होगा। अस्पृश्यता दूर करने का अर्थ है समस्त संसार के साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टि से अस्पृश्यता-निवारण अहिंसा का जोड़ा बन जाता है और वास्तव में है भी। अहिंसा के मानी हैं जीवमात्र के प्रति पूर्ण प्रेम। अस्पृश्यता-निवारण का भी यही अर्थ है। जीवमात्र के साथ का भेद मिटाना अस्पृश्यता-निवारण है। अस्पृश्यता को यों देखने पर अवश्य यह दोष थोड़े-बहुत अंशों में संसार-भर में फैला हुआ है; पर यहां हमने उसका हिन्दूधर्म में समाई हुई सड़न के रूप में विचार किया है, क्योंकि हिन्दूधर्म में उसने धर्म का स्थान ले लिया है और धर्म के बहाने लाखों या करोड़ों मनुष्यों की स्थिति गुलामों-सरीखी कर डाली है।

: ६ :

कायिक श्रम

मंगल-प्रभात
१६-९-३०

कायिक श्रम के मनुष्य-मात्र के लिए अनिवार्य होने की बात पहले-पहल टाल्स्टाय के एक निबन्ध से मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूप से इस बात को जानने के पहले, रस्किन का 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़ने के बाद फौरन ही उसपर मैं अमल तो करने लगा था। कायिक श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर' का शब्दशः अनुवाद है।

'ब्रेड-लेवर' का शब्दशः अनुवाद है 'रोटी (के लिए) श्रम'। रोटी के लिए हर आदमी का मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टाल्स्टाय की नहीं, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरिचित रूसी लेखक बुर्नोह की है। टाल्स्टाय ने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आंखें भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में पा रही हैं। यज्ञ किये बिना खानेवाला चोरी का अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञ के लिए है। यहां यज्ञ का अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है और मेरे मतानुसार निकलता भी है। जो भी हो हमारे इस व्रत की यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तु की ओर हमें ले जाती है। मजदूरी न करनेवाले को खाने का क्या अधिकार हो सकता है? बाइबिल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना" करोड़पति भी यदि अपने पलंग पर पड़ा रहे और मुंह में किसीके खाना डाल देने पर खाय तो बहुत दिनों तक न खा सकेगा। उसमें उसके लिए आनन्द भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुंह हिलाकर। तो फिर यह प्रश्न अपने-आप उठता है कि यदि इस तरह किसी-न-किसी रूप में राजा-रंक सभीको अंग-संचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करने की ही कसरत सब लोग क्यों न करें? किसान से हवा

खाने या कसरत करने को कोई नहीं कहता । और संसार के सैकड़े नब्बे से भी अधिक मनुष्यों का निर्वाह खेती से होता है । शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करें तो संसार में कितना सुख, कितनी शांति और कितना अरोग्य फैले ! यदि खेती के साथ बुद्धि का मेल हो जाय तो खेती के काम की अनेक कठिनाइयां सहज में दूर हो जायं । इसके सिवा यदि कायिक श्रम के इस निरपवाद नियम को सभी मानने लगें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जांय । इस समय तो जहां उच्चता की गंध भी न थी वहां भी, अर्थात् वर्ण-व्यवस्था में भी वह घुस गई है । मालिक-मजदूर का भेद सर्वव्यापक हो गया है और गरीब अमीर से ईर्ष्या करने लगा है । यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मेहनत करें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय और फिर जो धनीवर्ग रह जायगा वह अपनेको मालिक न मानकर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यतः केवल लोक-सेवा के लिए करेगा । जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है उसके लिए तो कायिक श्रम रामबाण रूप हो जाता है । यह श्रम, वास्तव में देखा जाय तो, खेती ही है । पर आज की जो स्थिति है उसमें सब उसे नहीं कर सकते । इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रखकर, आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगीरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है । सबको अपना-अपना भंगी

तो होना ही चाहिए। जो खाता है उसे मल-त्याग तो करना ही पड़ता है। मल-त्याग करनेवाले का ही अपने मल को गाड़ना सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना कर्त्तव्य पालन करे। मुझे तो वर्षों से ऐसा मालूम होता रहा है कि जहां भंगी का अलग धंधा माना गया है वहां कोई महादोष घुस गया है। इसका इतिहास हमारे पास नहीं है कि इस आवश्यक आरोग्य-रक्षक कार्य को किसने पहले नीचातिनीच ठहराया। ठहरानेवाले ने हमपर उपकार तो नहीं ही किया। हम सभी भंगी हैं, यह भावना हमारे दिल में बचपन से दृढ़ हो जानी चाहिए और इसे करने का सहज-से-सहज उपाय यह है कि जो समझे हों वे कायिक श्रम का आरंभ पाखाना साफ करने से करें। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा वह उसी क्षण से धर्म को भिन्न और सच्चे रूप में समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोग से अपंग बने हुए यदि परिश्रम न करें तो उसे कोई अपवाद न माने। बालक का समावेश माता में हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम भंग न हो तो बूढ़े, अपंग न होंगे और रोग के होने की बात ही क्या है?

: १० :

सर्वधर्म-समभाव

१

मंगल-प्रभात
२३-९-३०

हमारे व्रतों में सहिष्णुता के नाम से परिचित व्रत को यह नया नाम दिया गया है। सहिष्णुता अंग्रेजी शब्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। मुझे यह पसन्द न था, पर उस समय दूसरा शब्द सूझता नहीं था। काका साहब को भी यह नहीं रुचा था। उन्होंने 'सर्वधर्म-आदर' शब्द सुझाया। मुझे वह भी नहीं जंचा। दूसरे धर्मों को सहने की भावना में उनमें न्यूनता मानी जाती है। आदर में कृपा का भाव आता है। अहिंसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसा की दृष्टि से पर्याप्त नहीं हैं। दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने के मूल में अपने धर्म का अपूर्णता-स्वीकार भी आ ही जाता है। सत्य की आराधना, अहिंसा की कसौटी यही सिखाती है। संपूर्ण सत्य को यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्य के आग्रह की क्यों बात थी? तब तो हम परमेश्वर हो गये होते; क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उनका आग्रह करते हैं। इसीसे पुरुषार्थ की गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णता की

स्वीकृति आ गई है। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतन्त्र धर्म संपूर्ण है। हमने उसे देखा नहीं है, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्त्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर दिन-प्रति-दिन आगे बढ़ सकते हैं। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मों को अपूर्ण मान लेते हैं तो फिर किसी को ऊंच-नीच मानने की बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे हैं, पर सभी अपूर्ण हैं, इसलिए दोष के पात्र हैं। समभाव होने पर भी हम उनमें दोष देख सकते हैं। हमें अपने में भी दोष देखना चाहिए। उस दोष के कारण उसका त्याग न करें, बल्कि दोष को दूर करें। इस प्रकार समभाव रखने से दूसरे धर्मों के ग्राह्य अंश को अपने धर्म में लेते संकोच न होगा। इतना ही नहीं, बल्कि वैसा करना धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषा में मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किस का अर्थ सच्चा माना जाय? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जबतक वह दृष्टि बनी है तब-तक, सच्चे हैं। पर झूठा होना भी असम्भव नहीं है। इसलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना

चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती, बल्कि स्वधर्मविषयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं। धर्मांधता और दिव्यदर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अन्तर है। धर्म-ज्ञान होने पर अंतराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते हैं।

यहां धर्म-अधर्म का भेद नहीं मिटता। यहां तो उन धर्मों की बात है जिन्हें हम निर्धारित धर्म के रूप में जानते हैं। इन सभी धर्मों के मूल सिद्धांत एक ही हैं। सभीमें सन्त स्त्री-पुरुष हो गये हैं, आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मों के प्रति समभाव में, और धर्मियों—मनुष्य के प्रति जिस समभाव की बात है उसमें, कुछ अन्तर है। मनुष्यमात्र—दुष्ट और श्रेष्ठ के प्रति, धर्मी और अधर्मी के प्रति समभाव की अपेक्षा है, पर अधर्म के प्रति वह कदापि नहीं है।

अब प्रश्न यह होता है कि बहुत-से धर्मों की आवश्यकता क्या है? हम जानते हैं कि धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है पर मनुष्य-देह अगणित हैं। देह की असंख्यता टाले नहीं टल सकती, तथापि आत्मा की एकता को हम पहचान सकते हैं। धर्म का मूल एक है जैसे वृक्ष का; पर उसके पत्ते असंख्य हैं।

: ११ :

सर्वधर्म-समभाव

२

मंगल-प्रभात
३०-९-३०

यह विषय इतने महत्त्व का है कि इसे यहां और विस्तार से लिखना चाहता हूं। अपना कुछ अनुभव लिख दूं तो शायद समभाव का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाय। यहां की तरह फिनिक्स में भी नित्य प्रार्थना होती थी। वहां हिन्दू, मुसलमान और ईसाई थे। स्वर्गीय सेठ रुस्तमजी या उनके लड़के प्रायः उपस्थित रहते ही थे। सेठ रुस्तमजी को 'मनेवालुं-वहालुं दादा रामजीनुं नाम' (मुझे रामनाम प्रिय है) बहुत अच्छा लगता था। मुझे याद आ रहा है कि एक बार मगनलाल या काशी हम-सबको गवा रहे थे। रुस्तमजी सेठ उल्लास में बोल उठे, " 'दादा रामजी' के बदले 'दादा होरमज्द' गाओ न।" गवाने और गाने वालों ने इस सूचना पर तुरन्त इस तरह अमल किया मानो वह बिलकुल स्वाभाविक हो। और इसके बाद से रुस्तमजी जब उपस्थित होते तब तो अवश्य ही, और वह न होते तब भी, कभी-कभी हम लोग वह भजन 'दादा होरमज्द' के नाम से गाते। स्व० दाऊद सेठ का पुत्र हुसेन तो आश्रम में बहुत बार रहता। वह प्रार्थना में उत्साहपूर्वक शामिल होता था। वह

खुद बहुत मधुर सुर में 'आर्गन' के साथ 'यह बहारे बाग-दुनिया चंद रोज' गाया करता और वह भजन हमें-सबको उसने सिखा दिया था। वह बहुत बार प्रार्थना में गाया जाता था। हमारे यहां की आश्रम-भजनावली में उसे स्थान मिला है। वह सत्य-प्रिय हुसेन की स्मृति है। उसकी अपेक्षा अधिक तत्परता से सत्य का आचार करनेवाला नवयुवक मैंने नहीं देखा। जोसफ रोयपेन आश्रम में अकसर आते-जाते थे। वह ईसाई थे। उन्हें 'वैष्णव-जन' वाला भजन बहुत अच्छा लगता था। संगीत का उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने 'वैष्णव-जन' के स्थान पर 'क्रिश्चियन जन तो तेनें कहिए' अलाप दिया। सबने तुरन्त उनका साथ दिया। मैंने देखा कि जोसफ के आनन्द का पारावार न रहा।

आत्मसंतोष के लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्म-पुस्तकें उलट रहा था तब मैंने ईसाई, इस्लाम, जरथुस्ती, यहूदी और हिन्दू, इतनों की पुस्तकों का अपने संतोष भर के लिए परिचय कर लिया था। मैं कह सकता हूं कि इस अध्ययन के समय सभी धर्मों के प्रति मेरे मन में समभाव था। मैं यह नहीं कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय समभाव शब्द का भी पूरा परिचय न रहा होगा; परन्तु उस समय की अपनी स्मृतियां ताजी करता हूं तो मुझे याद नहीं आता कि उन धर्मों के सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी करने की इच्छा तक हुई हो। वरन् उनके ग्रन्थों को धर्म-ग्रन्थ

मानकर आदरपूर्वक पढ़ा और सबमें मूल नैतिक सिद्धांत एक-जैसे ही पाता था। कितनी ही बातें मैं नहीं समझ सकता था। यही बात हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी थी। आज भी कितनी ही बातें नहीं समझता; पर अनुभव से देखता हूं कि जिसे हम नहीं समझ सकते वह गलत ही है, यह मानने की जल्दबाजी करना भूल है। कितनी ही बातें पहले समझ में नहीं आती थीं, वे आज दीपक की तरह दिखाई देती हैं। समभाव का अभ्यास करने से अनेक गुत्थियां अपने आप सुलझ जाती हैं और जहां हमें दोष ही दिखाई दें, वहां उन्हें दरसाने में भी नम्रता और विवेक होने के कारण किसी को दुःख नहीं होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। पिछले लेख में मैंने कहा है कि धर्म-धर्म का भेद रहता है और धर्म के प्रति समभाव रखने का अभ्यास करना यहां उद्देश्य नहीं है। यदि ऐसा हो तो धर्माधर्म का निर्णय करने में ही क्या समभाव की शृंखला नहीं टूट जाती? यह प्रश्न उठ सकता है और यह भी संभव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे। परन्तु हममें यदि वास्तविक अहिंसा मौजूद रहे तो हम वैरभाव से बच जाते हैं; क्योंकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्म का आचरण करनेवाले के प्रति तो प्रेमभाव ही होगा। इससे या तो वह हमारी दृष्टि स्वीकार कर लेगा अथवा हमारी भूल हमें दिखाएगा। या दोनों एक दूसरे के मतभेद को सहन करेंगे। अन्त में

विपक्षी अहिंसक न हुआ तो वह कठोरता से काम लेगा। तो भी हम अहिंसा के सच्चे पुजारी होंगे तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारी मृदुता उसकी कठोरता को अवश्य दूर कर देगी। दूसरे को, भूल के लिए भी, हमें पीड़ा नहीं पहुंचानी है। हमें खुद ही कष्ट सहना है। इस स्वर्ण-नियम का पालन करनेवाला सभी संकटों में से बच जाता है।

: १२ :

नम्रता

मंगल-प्रभात
७-१०-३०

इसका व्रतों में पृथक् स्थान नहीं है और हो भी नहीं सकता। अहिंसा का यह एक अर्थ है, अथवा यों कहिये कि उसके अंतर्गत है; परन्तु नम्रता अभ्यास से प्राप्त नहीं होती, वह स्वभाव में ही आ जानी चाहिए। जब आश्रम की नियमावली पहले-पहल बनी तब मित्रों के पास उसका मसविदा भेजा गया था। सर गुरुदास बैनर्जी ने नम्रता को व्रतों में स्थान देने की सूचना की थी और तब भी उसे व्रतों में स्थान न देने का मैंने वही कारण बतलाया था जो यहां लिख रहा हूं। यद्यपि व्रतों में उसे स्थान नहीं है तथापि वह व्रतों की अपेक्षा शायद अधिक आवश्यक है। आवश्यक तो है ही; परन्तु नम्रता किसीको अभ्यास से प्राप्त होती नहीं देखी गई। सत्य का अभ्यास

किया जा सकता है, दया का अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु नम्रता के सम्बन्ध में, कहना चाहिए कि उसका अभ्यास करना दम्भ का अभ्यास करना है। यहां नम्रता से तात्पर्य उस वस्तु से नहीं है जो बड़े आदमियों में एक-दूसरे के सम्मानार्थ सिखाई-पढ़ाई जाती है। कोई बाहर से दूसरे को साष्टांग नमस्कार करता हो, पर मन में उसके सम्बन्ध में तिरस्कार भरा हुआ हो तो यह नम्रता नहीं लुच्चई है। कोई रामनाम जपता रहे, माला फेरे, मुनि सरीखा बनकर समाज में बैठे, पर भीतर स्वार्थ भरा हो, तो वह नम्र नहीं, पाखंडी है। नम्र मनुष्य खुद नहीं जानता कि कब वह नम्र है। सत्यादि का नाप हम अपने पास रख सकते हैं, पर नम्रता का नहीं। स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती, तथापि नम्र मनुष्य खुद उसे नहीं देख सकता। वशिष्ठ-विश्वामित्र का उदाहरण तो आश्रम में हम लोगों ने अनेक बार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यता तक पहुंच जानी चाहिए। हम कुछ हैं, यह भूत मन में घुसा कि नम्रता हवा हो गई और हमारे सभी व्रत मिट्टी में मिल गये। व्रत-पालन करनेवाला यदि मन में अपने व्रत-पालन का गर्व रखे तो व्रतों का मूल्य खो देगा और समाज में विष रूप हो जायगा। उसके व्रत का मूल्य न समाज ही करेगा, न वह खुद ही उसका फल भोग सकेगा। नम्रता का अर्थ है अहंभाव का आत्यंतिक क्षय। विचार करने पर मालूम हो सकता है कि इस संसार में जीवमात्र एक रजकण

की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं है। शरीर के रूप में हम लोग क्षणजीवी हैं। काल के अनन्त चक्र में सौ वर्ष का हिसाब किया ही नहीं जा सकता; परन्तु यदि हम इस चक्कर से बाहर हो जायं, अर्थात् 'कुछ नहीं' हो जायं, तो हम सब-कुछ हो जायं। होने का अर्थ है ईश्वर से—परमात्मा से—सत्य से—पृथक् हो जाना। कुछ का मिट जाना परमात्मा में मिल जाना है। समुद्र में रहनेवाला बिंदु समुद्र की महत्ता का उपभोग करता है, परन्तु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्र से अलग होकर ज्यों ही अपनेपन का दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवन को पानी के बुलबुले की उपमा दी गई है, इसमें मुझे ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं दिखाई देती।

एसी नम्रता—शून्यता—अभ्यास से कैसे आ सकती है? पर व्रतों को सही रीति से समझ लेने से नम्रता अपने-आप आने लगती है। सत्य का पालन करने की इच्छा रखनेवाला अहंकारी कैसे हो सकता है? दूसरे के लिए प्राण न्यौछावर करनेवाला अपना स्थान कहां घेरने जायगा? उसने तो जब प्राण न्यौछावर करने का निश्चय किया तभी अपनी देह को फेंक दिया। क्या ऐसी नम्रता पुरुषार्थरहितता न कहलाएगी? हिन्दू-धर्म में ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है और इससे बहुत जगह आलस्य को, पाखंड को स्थान मिल गया है। वास्तव में नम्रता का अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है; परन्तु वह सब परमार्थ के लिए होना

चाहिए। ईश्वर स्वयं चौबीसों घंटे एक सांस काम करता रहता है, अंगड़ाई लेने तक का अवकाश नहीं लेता। हम उसके हो जायं, उसमें मिल जायं तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतंद्रित हो गया—हो जाना चाहिए। समुद्र से अलग हो जानेवाले बिंदु के लिए हम आराम की कल्पना कर सकते हैं; परन्तु समुद्र में रहनेवाले बिंदु के लिए आराम कहां? समुद्र को एक क्षण के लिए भी आराम कहां मिलता है? ठीक यही बात हमारे सम्बन्ध में है। ईश्वररूपी समुद्र में हम मिले और हमारा आराम गया, आराम की आवश्यकता भी जाती रही। यही सच्चा आराम है। यह महा-अशांति में शांति है। इसलिए सच्ची नम्रता हमसे जीवनमात्र की सेवा के लिए सर्वार्पण की आशा रखती है। सबसे निवृत्त हो जाने पर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार। इस अवस्था का वर्णन करना कठिन है, परन्तु अनुभवगम्य है वह। जिसने सर्वार्पण किया है, उसने इसका अनुभव किया है। हम सब अनुभव कर सकते हैं। यह अनुभव करने के उद्देश्य से ही हम लोग आश्रम में एकत्र हुए हैं। सब व्रत, सब प्रवृत्तियां यह अनुभव करने के लिए ही हैं। यह-वह करते-करते किसी दिन यह हमारे हाथ लग जायगा। केवल उसीको खोजने जाने से वह प्राप्त नहीं है।

: १३ :

स्वदेशी

प्रवचनों में 'स्वदेशी' पर लिखने का विचारत्याग ही दूंगा ; क्योंकि इससे, मैंने राजनैतिक विषयों को न छेड़ने का जो संकल्प किया है उसमें कुछ बाधा पड़ सकती है। स्वदेशी पर केवल धार्मिक दृष्टि से लिखते भी कुछ ऐसी बातें लिखनी होंगी कि जिनका राजनैतिक विषयों से परोक्ष सम्बन्ध है।

: १४ :

स्वदेशी व्रत

स्वदेशीव्रत इस युग का महाव्रत है। जो वस्तु आत्मा का धर्म है, लेकिन अज्ञान या अन्य कारण से आत्मा को जिसका भान नहीं रहा, उसके पालने के लिए व्रत लेने की जरूरत पड़ती है। जो स्वभावतः निरामिषाहारी है उसे आमिषाहार न करने का व्रत नहीं लेना रहता। आमिष उसके लिए प्रलोभन की चीज नहीं होती, बल्कि आमिष देखकर उसे उलटी आवेगी।

स्वदेशी आत्मा का धर्म है पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषय में व्रत लेने की जरूरत रहती है। आत्मा के लिए स्वदेशी का अंतिम अर्थ सारे स्थूल संबंधों से आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है; क्योंकि देह अन्य आत्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होती है, उसके मार्ग में विघ्नरूप है।

जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जाने और पालनेवाला देह का भी त्याग करता है।

यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकते हैं कि अपने पास रहनेवालों की सेवा में ओतप्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना संभव है कि दूरवाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है; पर वह केवल आभास ही होगा। स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

इसके विरुद्ध दूर की सेवा करने का मोह रखने में वह हो नहीं पाती और पड़ोसी की सेवा छूट जाती है। यों इधर-उधर दोनों बिगड़ते हैं। मुझपर आधार रखनेवाले कुटुंबीजन अथवा ग्रामवासियों को मैंने छोड़ा तो मुझपर उनका जो आधार था वह चला गया। दूरवालों की सेवा करने जाने में उनकी सेवा करने का जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। वहां का वातावरण बिगड़ा और अपना तो बिगड़ कर चला ही था। यों हर तरह से उसने नुकसान ही किया। ऐसे अनगिनत हिसाब सामने रखकर स्वदेशी धर्म सिद्ध किया जा सकता है। इसीसे, 'स्वधर्मे निधन श्रेयः परधर्मो भयावहः' वाक्य की उत्पति हुई है। इसका अर्थ इस प्रकार अवश्य किया जा सकता है कि 'स्वदेशी पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है।' स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी।

स्वदेशी को समझ न पाने से ही गड़बड़ी होती

है। कुटुंब पर मोह रख कर मैं उसे पोसूं, उसके लिए धन चुराऊं, दूसरे प्रपंच रचूं तो यह स्वदेशी नहीं है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म हैं उसे पालना है। उस धर्म की खोज करते और पालते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल जाता है। स्वधर्म के पालने से परधर्मी को या परधर्म को कभी हानि पहुंच ही नहीं सकती, न पहुंचनी चाहिए। पहुंचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं; बल्कि स्वाभिमान है, अतः वह त्याज्य है।

स्वदेशी का पालन करते हुए कुटुंब का बलिदान भी देना पड़ता है; पर वैसा करना पड़े तो उसमें भी कुटुंब की सेवा होनी चाहिए। यह संभव है कि हम जैसे अपने को खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं वैसे कुटुंब को खोकर कुटुंब की रक्षा कर सकते हैं। मान्लिए, मेरे गांव में महामारी हो गई। इस बीमारी के चंगुल में फंसे हुओं की सेवा में मैं अपने को, पत्नी को, पुत्रों को, पुत्रियों को लगाऊं और इस रोग में फंस कर मौत के मुंह में चले जायं तो मैंने कुटुंब का संहार नहीं किया, मैंने उसकी सेवा की। स्वदेशी में स्वार्थ नहीं है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ मानी परमार्थ, शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थ की पराकाष्ठा।

इस विचारधारा के अनुसार मैंने खादी में सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सबकी समझ में आने योग्य, सभी को जिसके पालने की इस युग में, इस देश में भारी आवश्यकता हो, ऐसा कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है? जिसके अनायास पालने से भी हिंदु-

स्तान के करोड़ों की रक्षा हो सकती है ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जवाब में चर्खा अथवा खादी मिली ।

कोई यह न माने कि इस धर्म के पालन से परदेशी मिलवालों को नुकसान होता है। चोर को चुराई हुई चीज वापस देनी पड़े या वह चोरी करते रोका जाय तो इसमें उसे नुकसान नहीं है, फायदा है। पड़ोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड़ दे तो इससे कलवार को या अफीम के दुकानदार को नुकसान नहीं, लाभ है। अयोग्य रीति से जो अर्थ साधते हों उनके उस अर्थ का नाश होने में उनको और जगत को फायदा ही है।

पर जो चर्खे द्वारा जैसे-तैसे सूत कात कर, खादी पहन-पहना कर स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं वे महामोह में डूबे हुए हैं। खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी धर्म की परिसीमा नहीं है। ऐसे खादीधारी देखे गये हैं जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते हैं। वे स्वदेशी का पालन नहीं करते। वे तो प्रवाह में बहनेवाले हैं। स्वदेशी व्रत का पालन करनेवाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहां-जहां पड़ोसी की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहां-जहां उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा वहां-वहां वह दूसरा छोड़कर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महंगी और कम दर्जे की ही क्यों न हो। इस व्रतधारी सुधारे

और सुधरवाने का प्रयत्न करेगा। कायर बनकर, स्वदेशी खराब है इससे, परदेशी काम में नहीं लाने लग जायगा।

किन्तु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कुएं में डूबेगा नहीं। जो वस्तु स्वदेश में नहीं बनती अथवा महाकष्ट से ही बन सकती है वह परदेश के द्वेष के कारण अपने देश में बनाने बैठ जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है। स्वदेशी धर्म पालनेवाला परदेशी का कभी द्वेष नहीं करेगा। अतः पूर्ण स्वदेशी में किसीका द्वेष नहीं है। यह संकुचित धर्म नहीं है। यह प्रेम में से, अहिंसा में से पैदा हुआ सुंदर धर्म है

: १५ :

व्रत की आवश्यकता

मंगल-प्रभात
१४-१०-३०

व्रत के महत्त्व के सम्बन्ध में मैं जहां-तहां इस लेख में लिख गया होऊंगा; परन्तु व्रत जीवन के गठन के लिए कितने आवश्यक हैं, यहां इसपर विचार करना उचित प्रतीत होता है। व्रतों के संबंध में लिख चुकने के बाद अब उन व्रतों की आवश्यकता पर विचार करेंगे।

ऐसा एक सम्प्रदाय है, और वह प्रबल है, जो कहता है कि अमुक नियमों का पालन करना उचित है, पर उनके सम्बन्ध में व्रत लेने की आवश्यकता नहीं,

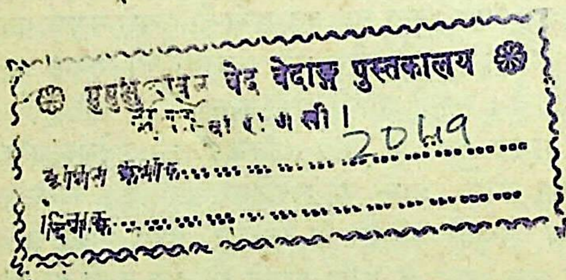
इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा करना मन की निर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। इसके सिवा व्रत लेने के बाद यह नियम अड़चन करनेवाला या पापरूप मालूम हो तो भी उसे पकड़ रखना पड़े, यह तो असह्य है।' वे कहते हैं कि 'उदाहरण के लिए, शराब न पीना अच्छा है, इसलिए नहीं पीना चाहिए, पर कभी पी ली गई तो क्या हुआ? दवा की भांति तो उसे पीना ही चाहिए। इसलिए उसे न पीने का व्रत, यह तो गले में फंदा डालने के समान है। और जो बात शराब के बारे में है वही बात दूसरी चीजों के बारे में है। झूठ भी भलाई के लिए क्यों न बोला जाय?' मुझे इन दलीलों में तत्त्व नहीं दिखाई देता। व्रत का अर्थ है अटल निश्चय। अड़चनों को पार कर जाने के लिए ही तो व्रत की आवश्यकता है। असुविधा सहन करने पर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय कहा जा सकता है। समस्त संसार का अनुभव इस बात की गवाही दे रहा है कि ऐसे निश्चय के बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर उठ नहीं सकता। जो पापरूप हो उसका निश्चय व्रत नहीं कहलाता। वह राक्षसी वृत्ति है। और कोई विशेष निश्चय जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अन्त में पापरूप सिद्ध हो तो उसे त्याग करने का धर्म अवश्य प्राप्त होता है; पर ऐसी वस्तु के लिए कोई व्रत नहीं लेता, न लेना चाहिए। जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरण की हमें आदत नहीं पड़ी, उसके संबंध में व्रत होना चाहिए।

ऊपर दृष्टांत में तो पाप का आभासमात्र संभव है। सत्य कहने से किसी की हानि हो जायगी तो ? सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता, उसे खुद ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि सत्य से इस संसार में किसी की हानि नहीं होती और हो सकती भी नहीं। मद्य-पान के विषय में भी यही बात है। या तो इस व्रत में दवा के लिए अपवाद रहने देना चाहिए या व्रत के पीछे शरीर के लिए जोखिम उठाने का भी निश्चय रहना चाहिए। दवा के तौरपर भी शराब न पीने से शरीर न रहे तो क्या हुआ ? शराब पीने से शरीर रहेगा ही इसका पट्टा कौन लिख सकता है ? और उस समय शरीर बच गया, पर किसी दूसरे समय किसी दूसरे कारण से न रहा तो उसकी जवाबदेही किसके सिर होगी ? इसके विपरीत, शरीर-रक्षा के लिए भी शराब न पीने के दृष्टांत का चमत्कारिक प्रभाव शराब की लत में फंसे हुए लोगों पर पड़े तो संसार का कितना लाभ है ? शरीर जाय या रहे, मुझे तो धर्म का पालन करना ही है—ऐसा भव्य निश्चय करनेवाले ही किसी समय ईश्वर की झांकी कर सकते हैं। व्रत लेना निर्बलता का सूचक नहीं, वरन् बल का सूचक है। अमुक बात का करना उचित है तो फिर करनी ही चाहिए; इसका नाम व्रत है और इसमें बल है। फिर इसे व्रत न कहकर किसी दूसरे नाम से पुकारें तो उसमें हर्ज नहीं है; परन्तु 'जहां तक हो सकेगा करूंगा' ऐसा कहनेवाला अपनी कमजोरी या अभिमान का परिचय

देता है भले ही उसे खुद वह नम्रता कहे। इसमें नम्रता की गंध तक नहीं है। मैंने अपने और बहुतों के जीवन में देखा है कि 'जहांतक हो सकेगा', यह शब्दावली शुभ निश्चयों में विष के समान है। 'जहांतक हो सकेगा,' वहांतक करने के मानी हैं पहले ही अड़चन के सामने गिर पड़ना। 'सत्य का पालन जहांतक हो सकेगा करूंगा', इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापार में यथासंभव अमुक तारीख को अमुक रकम चुका दी जायगी इस तरह की चिट्ठी, चेक या हुंडी के रूप में स्वीकार नहीं की जाती। उसी तरह जहांतक हो सकेगा वहांतक सत्य-पालन करने-वाले की हुंडी भगवान की दुकान में नहीं भुनाई जा सकती।

ईश्वर स्वयं निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्त्ति है। उसके नियमों से एक अणु इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय। सूर्य महाव्रतधारी है, उससे संसार का काल-निर्माण होता है और शुद्ध पंचांगों की रचना की जा सकती है। उसने अपनी ऐसी साख ... की है कि वह सदा उदय हुआ है, सदा उदय होता रहेगा और इसीसे हम लोग अपने को सुरक्षित पाते हैं। व्यापार मात्र एक पक्की प्रतिज्ञा के आधार पर चलते हैं। व्यापारी एक-दूसरे के प्रति वायदे से बंधे न हों हो तो व्यापार चले ही न। इस प्रकार व्रत सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देती है। तो फिर जहां हमारे अपने जीवन के गठन का प्रश्न उपस्थित हो, ईश्वर-दर्शन

करने का प्रश्न हो, वहां व्रत के बिना कैसे काम चल सकता है? इसलिए व्रत की आवश्यकता के विषय में हमारे मन में कभी शंका उठनी ही न चाहिए।





गांधीजी की अन्य पुस्तकें

